Shodh Prabha: A Multidisciplinary Journal
ISSN: 3108-2726 (Online), 3108-2890 (Print), Volume-1, Issue-3, (May – Jun) 2025

‘तोड़ती पत्थर’ और ‘भिक्षुक’ में सामाजिक विषमता का चित्रण

सोनम राय
शोधार्थी, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सारांश

सूर्यकांत त्रिपाठी ‘निराला’ की कविता भारतीय समाज के उन वर्गों को साहित्यिक दृश्यता प्रदान करती है जो आर्थिक अभाव, सामाजिक उपेक्षा और श्रम के असमान वितरण के कारण मुख्यधारा से बाहर कर दिए गए हैं। ‘तोड़ती पत्थर’ और ‘भिक्षुक’ इस दृष्टि से उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कविताओं में हैं। पहली कविता में कठोर श्रम करती हुई स्त्री के माध्यम से वर्गीय तथा लैंगिक विषमता का चित्रण हुआ है, जबकि दूसरी कविता भूख से विघटित मनुष्य और उसके बच्चों की स्थिति को सामने लाती है। दोनों कविताएँ करुणा उत्पन्न करती हैं, किंतु उनकी करुणा भावुक दया तक सीमित नहीं रहती; वह सामाजिक व्यवस्था की संरचनात्मक अमानवीयता को उद्घाटित करती है। प्रस्तुत आलेख का केंद्रीय प्रश्न यह है कि निराला इन दोनों कविताओं में निर्धन पात्रों को निष्क्रिय दया-पात्र के रूप में चित्रित करते हैं अथवा उनमें मानवीय गरिमा, प्रतिरोध और सामाजिक प्रश्नाकुलता का भी संचार करते हैं। निराला की अन्य सामाजिक कविताओं के संदर्भ में देखने पर दोनों रचनाएँ उनकी व्यापक जनपक्षधरता, सामंती-पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति असहमति और मनुष्य-केंद्रित काव्य-दृष्टि को प्रकट करती हैं।

बीज शब्द- सामाजिक विषमता, श्रम, भूख, स्त्री-अस्मिता, वर्गभेद, करुणा, प्रतिरोध।

मुख्य आलेख

हिंदी कविता में सामाजिक विषमता का चित्रण केवल निर्धनता का दृश्य प्रस्तुत कर देने से सार्थक नहीं होता। उसकी वास्तविक आलोचनात्मक क्षमता तब सामने आती है जब कविता निर्धनता को व्यक्ति के भाग्य, अकर्मण्यता या ईश्वरीय विधान का परिणाम न मानकर सामाजिक संबंधों, संपत्ति के असमान वितरण और सत्ता की संरचनाओं से जोड़ती है। सूर्यकांत त्रिपाठी ‘निराला’ की ‘तोड़ती पत्थर’ और ‘भिक्षुक’ इसी अर्थ में महत्त्वपूर्ण कविताएँ हैं। इनमें अभावग्रस्त जीवन का चित्रण किसी दूरस्थ अथवा काल्पनिक संसार के रूप में नहीं, आधुनिक नगर और सभ्यता के बीच उपस्थित कटु यथार्थ के रूप में हुआ है। एक ओर इलाहाबाद की सड़क पर पत्थर तोड़ती श्रमिक स्त्री है, जिसके सामने भव्य अट्टालिकाएँ खड़ी हैं; दूसरी ओर पेट और पीठ के एक हो जाने की अवस्था तक भूखा भिक्षुक है, जिसके बच्चे सड़क पर पड़ी जूठी पत्तलों के लिए कुत्तों से संघर्ष कर रहे हैं। दोनों दृश्य आर्थिक अभाव से अधिक उस सामाजिक व्यवस्था को प्रश्नांकित करते हैं जिसमें वैभव और वंचना एक-दूसरे के सामने मौजूद रहते हुए भी परस्पर असंबद्ध दिखाई देते हैं।

निराला छायावाद के प्रमुख कवि होते हुए भी केवल आत्मानुभूति, प्रकृति और रहस्यात्मक सौंदर्य के कवि नहीं हैं। उनके काव्य का एक सशक्त पक्ष सामाजिक अन्याय से उत्पन्न आक्रोश, पीड़ित मनुष्य के प्रति आत्मीयता तथा रूढ़ व्यवस्था के विरुद्ध असहमति से निर्मित हुआ है। ‘विधवा’, ‘दान’, ‘कुकुरमुत्ता’, ‘महँगू महँगा रहा’, ‘राजे ने अपनी रखवाली की’, ‘जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ’, ‘सरोज-स्मृति’, ‘तोड़ती पत्थर’ और ‘भिक्षुक’ जैसी कविताएँ सिद्ध करती हैं कि उनकी मानवीय संवेदना अमूर्त नहीं है। वह जाति, वर्ग, लिंग, भूख, श्रम, धार्मिक आडंबर और सत्ता के वास्तविक संबंधों को पहचानती है। फिर भी निराला को किसी निश्चित राजनीतिक सिद्धांत में सीमित कर देना उचित नहीं होगा। उनकी सामाजिक चेतना का मूल आधार मनुष्य की स्वतंत्रता, उसकी गरिमा तथा अन्याय के विरुद्ध कवि का नैतिक प्रतिरोध है।

‘तोड़ती पत्थर’ और ‘भिक्षुक’ का तुलनात्मक अध्ययन इस कारण भी आवश्यक है कि दोनों में पीड़ा की प्रकृति अलग-अलग है। पत्थर तोड़ती स्त्री श्रम कर रही है, फिर भी उसके पास सुरक्षित और मानवीय कार्य-परिस्थितियाँ नहीं हैं। भिक्षुक

के पास श्रम का अवसर या जीविका का स्थायी साधन ही नहीं है। पहली कविता श्रम के शोषण और लैंगिक विषमता को केंद्र में लाती है; दूसरी कविता बेरोजगारी, भुखमरी और सामाजिक परित्याग को। दोनों के बीच समानता यह है कि उनके पात्र सभ्यता की समृद्धि के निर्माता अथवा उसके बीच जीवित मनुष्य हैं, किंतु उसी सभ्यता के लाभों से बहिष्कृत हैं। इसीलिए इन कविताओं की करुणा सामाजिक प्रश्न में रूपांतरित हो जाती है।

निराला के यहाँ पीड़ित मनुष्य का चित्रण केवल आँसुओं और विलाप के सहारे नहीं होता। वे दृश्य, देह, गति, ध्वनि और परिवेश के माध्यम से विषमता को मूर्त करते हैं। 'तोड़ती पत्थर' में हथौड़े का बार-बार प्रहार, झुलसाती लू, माथे से गिरते पसीने के कण और सामने खड़ी अट्टालिका सामाजिक यथार्थ के दृश्यात्मक चिह्न हैं। 'भिक्षुक' में लकुटिया टेककर चलना, फटी झोली, सूखे होंठ, आँसू पीना और जूठी पत्तल चाटते बच्चे भूख की शारीरिक भाषा बन जाते हैं। यहाँ सामाजिक विषमता किसी अमूर्त सिद्धांत की तरह नहीं आती; वह मनुष्य की देह पर लिखी हुई दिखाई देती है।

निराला की सामाजिक दृष्टि को समझने के लिए 'विधवा' का स्मरण भी उपयोगी है। उसमें भारतीय विधवा की पीड़ा को व्यक्तिगत शोक न मानकर सामाजिक संवेदनहीनता से जोड़ा गया है—

"वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शांत भाव में लीन,
वह क्रूर काल-तांडव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन"[1]

इन पंक्तियों में उपमाएँ स्त्री के सात्त्विक सौंदर्य को प्रतिष्ठित करती हैं, किंतु "टूटे तरु की छुटी लता" का बिंब उसकी सामाजिक परनिर्भरता की ओर भी संकेत करता है। निराला उस व्यवस्था की आलोचना करते हैं जिसमें पति की मृत्यु के साथ स्त्री का सामाजिक जीवन भी समाप्त मान लिया जाता है। यही स्त्री-संबंधी दृष्टि अधिक विकसित और कर्मशील रूप में 'तोड़ती पत्थर' में उपस्थित होती है। वहाँ स्त्री "दीन" अवश्य है, किंतु पराश्रित नहीं; वह श्रमरत है, संघर्षरत है और अपने मौन में भी स्वाभिमान की रक्षा करती है।

निराला की सामाजिक कविता में धार्मिक दान और वास्तविक मानवीय करुणा के अंतर पर भी तीखा ध्यान है। 'दान' कविता में बंदरों को पकवान खिलाने वाला धार्मिक व्यक्ति पास खड़े भूखे मनुष्य की उपेक्षा करता है। कवि का व्यंग्य उस धार्मिकता पर है जो कर्मकांड में पुण्य खोजती है, परंतु मनुष्य की भूख को नहीं पहचानती। यह प्रसंग 'भिक्षुक' की अर्थवत्ता को विस्तृत करता है। वहाँ भूख केवल अन्न की अनुपलब्धता नहीं, समाज के नैतिक विवेक की विफलता है। जिस समाज में अन्न जूठी पत्तलों पर फेंक दिया जाता है और बच्चे उसे पाने के लिए कुत्तों से लड़ते हैं, वहाँ अभाव प्राकृतिक नहीं, वितरण और संवेदना की विकृति का परिणाम है।

'तोड़ती पत्थर' का आरंभ किसी दार्शनिक कथन अथवा भावनात्मक भूमिका से नहीं, एक प्रत्यक्ष दृश्य से होता है—

"वह तोड़ती पत्थर;
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर
वह तोड़ती पत्थर।"[2]

"देखा" क्रिया कविता की संपूर्ण संरचना में महत्त्वपूर्ण है। कवि केवल किसी श्रमिक स्त्री के बारे में सुनी हुई सूचना नहीं देता; वह उसे आधुनिक नगर के सार्वजनिक स्थल पर प्रत्यक्ष देखता है। इलाहाबाद केवल स्थान-सूचक नाम नहीं है। वह औपनिवेशिक प्रशासन, न्याय, शिक्षा, राजनीति और शहरी अभिजात वर्ग का केंद्र रहा नगर है। उसी नगर की सड़क पर एक स्त्री कठोर शारीरिक श्रम कर रही है। इस प्रकार कविता आधुनिकता के वैभव और श्रमिक जीवन की दरिद्रता को एक ही दृश्य में रख देती है। स्त्री के पास श्रम से बचने या विश्राम लेने की सुविधा नहीं है—

"कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार।"[3]

"कोई न छायादार पेड़" केवल प्राकृतिक छाया का अभाव नहीं बताता। यह श्रमिक के लिए सामाजिक संरक्षण के अभाव का प्रतीक भी है। श्रम करने वाली स्त्री को न विश्राम-स्थल उपलब्ध है, न सुरक्षा, न श्रम की मानवीय दशा। "बैठी हुई स्वीकार" में विवशता का भाव है, किंतु उसके बाद आने वाली पंक्तियाँ उस विवशता को निष्क्रिय समर्पण में बदलने नहीं देतीं। "प्रिय-कर्म-रत मन" श्रम के प्रति उसकी एकाग्रता का सूचक है। यहाँ 'प्रिय' का अर्थ यह नहीं कि शोषणकारी श्रम-स्थितियाँ उसे प्रिय हैं; वह अपने कर्म से विमुख नहीं होती। जीवन की कठोरता के सामने कर्मशीलता ही उसके अस्तित्व की रक्षा का साधन है।

"श्याम तन" और "भर बँधा यौवन" का उल्लेख निराला की दृष्टि को जटिल बनाता है। कवि श्रमिक स्त्री को केवल श्रम करती मशीन के रूप में नहीं देखता। वह उसकी देह, यौवन और व्यक्तित्व की पूर्णता को भी पहचानता है। किंतु यह वर्णन रीतिकालीन उपभोगवादी सौंदर्य-दृष्टि नहीं बनता, क्योंकि उसका यौवन विलास अथवा श्रृंगार में नहीं, कठोर श्रम में बँधा है। "नत नयन" उसकी सामाजिक स्थिति का संकेत दे सकता है, पर "गुरु हथौड़ा हाथ" उसे शक्ति और कर्म की प्रतिमा में रूपांतरित कर देता है। भारी हथौड़ा जिस हाथ में है, वह हाथ नाजुक और असहाय नारी की पारंपरिक छवि को तोड़ता है।

एक ओर छाया, वृक्षों की पंक्ति, ऊँची इमारत और सुरक्षित प्राकार हैं; दूसरी ओर खुले आकाश के नीचे धूप में पत्थर तोड़ती स्त्री। अट्टालिका संपन्न वर्ग के वैभव का संकेत है, जबकि उस वैभव के सामने बैठी स्त्री श्रमजीवी वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। संभव है कि जिन मार्गों, भवनों और नगरों का निर्माण श्रमिक करते हैं, उन्हीं पर उनका कोई अधिकार न हो। कविता इस विडंबना को किसी नारे में नहीं बदलती। केवल स्थानिक संयोजन से ही वर्गीय अंतर इतना स्पष्ट हो जाता है कि पाठक व्यवस्था की असमानता को अनुभव करने लगता है। प्रकृति भी श्रमिक स्त्री के अनुकूल नहीं है—

"चढ़ रही थी धूप;
गर्मियों के दिन,
दिवस का तमतमाता रूप;
उठी झुलसाती हुई लू,
रुई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगी छा गई।"[4]

यह प्रकृति-वर्णन छायावादी सौंदर्य का रमणीय रूप नहीं है। धूप "चढ़" रही है, दिवस "तमतमा" रहा है, लू "झुलसा" रही है और धूल चिनगारियों की तरह छा गई है। प्रकृति के ये आक्रामक रूप श्रम की यातना को बढ़ाते हैं। "रुई ज्यों जलती हुई भू" में धरती की तपन ऐसी है मानो सहज ही आग पकड़ लेने वाली रुई जल रही हो। इस दाहक वातावरण में भी स्त्री काम रोक नहीं सकती। उसकी आर्थिक निर्भरता इतनी कठोर है कि शरीर की सीमा और मौसम की प्रतिकूलता भी श्रम को स्थगित नहीं करती।

यहाँ सामाजिक विषमता का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष सामने आता है। गर्मी सभी के लिए समान प्राकृतिक घटना है, किंतु उसका प्रभाव वर्ग के अनुसार बदल जाता है। अट्टालिका में रहने वाले व्यक्ति को दीवार, छत, वृक्ष और विश्राम का संरक्षण उपलब्ध है; श्रमिक स्त्री सीधे लू और धूप के सामने है। इस प्रकार प्राकृतिक ताप सामाजिक व्यवस्था के कारण वर्गीय यातना में बदल जाता है। निराला प्रकृति और समाज के संबंध को बड़ी सूक्ष्मता से पकड़ते हैं। कविता का अगला दृश्य कवि और श्रमिक स्त्री की दृष्टियों के मिलने का है—

"देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार;
देखकर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं।"[5]

यहाँ "देखते देखा" अत्यंत अर्थगर्भित प्रयोग है। अब तक कवि स्त्री को देख रहा था; अब स्त्री कवि के देखने को देख लेती है। इस क्षण वह निरीक्षण की निष्क्रिय वस्तु नहीं रहती। उसकी दृष्टि कवि-दृष्टि को प्रत्युत्तर देती है। वह पहले भवन की ओर देखती है, मानो अपनी अवस्था और सामने उपस्थित वैभव के बीच संबंध पहचानती हो। "देखकर कोई नहीं" में सहायता, संरक्षण अथवा न्याय प्रदान करने वाली सत्ता की अनुपस्थिति निहित है। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो उसकी पीड़ा का उत्तरदायित्व स्वीकार करे।

"जो मार खा रोई नहीं" स्त्री के चरित्र का केंद्रीय सूत्र है। उसने जीवन और व्यवस्था की मार सही है, किंतु उसके सामने रोकर दया नहीं माँगती। इस पंक्ति को पीड़ा सहने की रूढ़ स्त्री-महिमा के रूप में नहीं पढ़ना चाहिए। कविता स्त्री को सहनशीलता का आदर्श बनाकर शोषण को उचित नहीं ठहराती। उसकी न रोने वाली दृष्टि व्यवस्था के विरुद्ध मौन अभियोग है। वह कवि से सहानुभूति की याचना नहीं करती; उलटे कवि और पाठक को अपने देखने की नैतिकता पर विचार करने के लिए बाध्य करती है। क्या उसे देख लेना पर्याप्त है? क्या करुणा सामाजिक संबंध बदल सकती है? कविता इन प्रश्नों को अनुत्तरित छोड़ती है, पर यही अनुत्तरितता उसकी आलोचनात्मक शक्ति है। स्त्री के पसीने और पुनः कर्म में लीन होने का चित्र भी महत्त्वपूर्ण है—

"एक क्षण के बाद वह काँपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा
'मैं तोड़ती पत्थर।"[6]

माथे से गिरता पसीना उसके श्रम की वास्तविक कीमत है। अंतिम कथन प्रत्यक्ष वाणी भी हो सकता है और कवि द्वारा अनुभव किया गया मौन संदेश भी। "मैं तोड़ती पत्थर" आरंभ में दृश्य का वर्णन था; अंत में वह स्त्री की आत्मपहचान और जीवन-सत्य बन जाता है। वह केवल बाहरी पत्थर नहीं तोड़ रही; उसके प्रहार सामाजिक कठोरता, वर्गीय उदासीनता और स्त्री के बारे में बनी असहायता की रूढ़ छवि पर भी पड़ते प्रतीत होते हैं। फिर भी कविता किसी आसान क्रांति की घोषणा नहीं करती। स्त्री का प्रतिरोध मौन, व्यक्तिगत और कर्म के भीतर निहित है। यही उसकी शक्ति भी है और सीमा भी।

'भिक्षुक' में सामाजिक विषमता का चित्रण श्रमरत मनुष्य के बजाय उस मनुष्य के माध्यम से हुआ है जो जीविका के साधनों से लगभग पूरी तरह वंचित हो चुका है। कविता का आरंभ भिक्षुक के आगमन और कवि पर पड़ने वाले भावात्मक प्रभाव से होता है—

"वह आता
दो टूक कलेजे के करता पछताता
पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक।"[7]

"वह आता" का आवर्तन प्रतीक्षा और पीड़ा की निरंतरता उत्पन्न करता है। यह कोई एक दिन की घटना नहीं, बार-बार घटित होने वाली सामाजिक स्थिति है। भिक्षुक का आगमन कवि के "कलेजे के दो टूक" कर देता है, किंतु कविता की सार्थकता केवल कवि की करुणा में नहीं है। "पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक" भूख का अत्यंत तीखा दृश्यात्मक बिंब है। अभाव इतना गहरा है कि शरीर का मध्य भाग मानो समाप्त हो गया है। व्यक्ति की देह सामाजिक विषमता का दस्तावेज बन जाती है। भिक्षुक के पास अपनी आवश्यकता पूरी करने का एकमात्र साधन फटी हुई झोली है—

"मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।"[8]

"मुट्ठी भर दाने" की माँग उसकी आवश्यकता की न्यूनता को व्यक्त करती है। वह संपत्ति, सुख-सुविधा या विशेषाधिकार नहीं माँग रहा; केवल जीवन बनाए रखने के लिए थोड़ा-सा अन्न चाहता है। इसके विपरीत समाज में अट्टालिकाएँ, संपत्ति और भोजन की प्रचुरता विद्यमान है। इस अंतर से स्पष्ट होता है कि समस्या कुल संसाधनों की कमी नहीं, उनके वितरण और स्वामित्व की असमानता है।

"मुँह फटी पुरानी झोली" भिक्षुक की दीर्घकालीन गरीबी का संकेत है। झोली का फटा होना केवल वस्त्र या वस्तु की जीर्णता नहीं, उस व्यवस्था की विफलता का प्रतीक है जो नागरिक को न्यूनतम जीवन-सुरक्षा भी प्रदान नहीं करती। उसकी झोली का "मुँह" है, किंतु समाज का हृदय मानो बंद है। निराला वस्तुओं को मानवीय गुण और मनुष्य को वस्तु जैसी असहायता देकर विषमता की विडंबना तीव्र करते हैं। कविता में भिक्षुक अकेला नहीं है। उसके साथ दो बच्चे हैं—

"साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।"[9]

बच्चों की उपस्थिति भूख को पीढ़ीगत बना देती है। गरीबी केवल एक वृद्ध या असफल व्यक्ति की समस्या नहीं रह जाती; वह अगली पीढ़ी के शरीर, चेतना और भविष्य को भी ग्रसती है। एक हाथ से पेट मलना शारीरिक पीड़ा का संकेत है और दूसरा हाथ दया की ओर बढ़ाना सामाजिक निर्भरता का। बच्चे अभी उस उम्र में हैं जब उन्हें शिक्षा, खेल, पोषण और सुरक्षा मिलनी चाहिए, किंतु उनका बालपन भीख माँगने की क्रिया में बदल गया है। बच्चों और भिक्षुक की निराशा को कविता आगे और तीखा करती है—

"भूख से सूख ओंठ जब जाते
दाता—भाग्य-विधाता से क्या पाते?
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते।"[10]

"दाता" और "भाग्य-विधाता" के बीच रखा गया व्यंग्य सामाजिक और धार्मिक दोनों प्रकार की नियतिवादी चेतना को प्रश्नांकित करता है। सम्पन्न व्यक्ति स्वयं को दाता समझ सकता है और निर्धन की अवस्था को भाग्य का परिणाम मान सकता है। निराला पूछते हैं कि ऐसे दाता और भाग्य-विधाता से भूखे मनुष्य को वास्तव में क्या मिलता है। उत्तर है—

कुछ नहीं; उसे अपने आँसू ही पीने पड़ते हैं। आँसू पीना उस विवशता का बिंब है जिसमें मनुष्य को अपनी पीड़ा भीतर ही दबानी पड़ती है। कविता का चरम दृश्य हिंदी कविता में भूख के सर्वाधिक मार्मिक चित्रों में गिना जा सकता है—

"चाट रहे जूठी पत्तल वे सभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए!"[11]

यहाँ मनुष्य और पशु के बीच भोजन के लिए संघर्ष उत्पन्न हो गया है। सभ्यता सामान्यतः मनुष्य को पशु से श्रेष्ठ मानती है, किंतु भूख सामाजिक प्रतिष्ठा और मानवीय गरिमा के सभी आवरण हटा देती है। बच्चे उस भोजन के लिए लड़ रहे हैं जिसे सम्पन्न समाज उपभोग के बाद फेंक चुका है। जूठी पत्तल एक साथ दो संसारों का प्रमाण है—किसी ने पेट भरकर भोजन किया है और किसी को उसी का अवशेष भी सहज उपलब्ध नहीं है।

कुत्तों का बच्चों से भिड़ना प्राकृतिक प्रतियोगिता नहीं है; यह सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न अमानवीकरण है। बच्चे पशु नहीं बने हैं, बल्कि समाज ने उन्हें ऐसी दशा में पहुँचा दिया है जहाँ उनके हिस्से का अन्न कूड़े और जूठी पत्तलों में खोजा जाता है। कविता इस दृश्य के माध्यम से भूख को सभ्यता का नैतिक संकट बना देती है। जिस समाज में बालक और कुत्ता जूठन के लिए समान धरातल पर संघर्ष करें, उसकी प्रगति और संस्कृति के दावे खोखले सिद्ध होते हैं।

'भिक्षुक' में करुणा अत्यंत प्रबल है, किंतु उसका स्वर 'तोड़ती पत्थर' की अपेक्षा अधिक असहाय दिखाई देता है। भिक्षुक और बच्चे प्रतिरोध की सक्रिय मुद्रा में नहीं हैं। वे याचना करते हैं, आँसू पीते हैं और जूठन प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। पर उनकी यह असहायता कविता को निष्क्रिय नहीं बनाती। उनकी स्थिति स्वयं समाज के विरुद्ध अभियोग है। उनके पास बोलने की शक्ति नहीं, इसलिए उनकी देह और भूख बोलती है। कवि उनकी ओर से कोई राजनीतिक भाषण नहीं देता; वह पाठक को उस दृश्य के सामने खड़ा कर देता है जिससे बचना नैतिक रूप से कठिन है।

'तोड़ती पत्थर' और 'भिक्षुक' का सबसे स्पष्ट साम्य यह है कि दोनों का केंद्र समाज के हाशिये पर उपस्थित मनुष्य है। फिर भी उनकी काव्य-स्थितियाँ भिन्न हैं। पत्थर तोड़ती स्त्री उत्पादन-प्रक्रिया का हिस्सा है। वह सड़क, भवन अथवा नगर-व्यवस्था के निर्माण में श्रम दे रही है। भिक्षुक उत्पादन और नियमित जीविका से बाहर धकेला जा चुका है। पहली कविता काम मिलने पर भी शोषित मनुष्य को दिखाती है; दूसरी काम और अन्न दोनों से वंचित मनुष्य को। इस प्रकार दोनों को साथ पढ़ने पर सामाजिक विषमता का व्यापक चित्र बनता है—श्रम के भीतर का शोषण भी और श्रम-संसार से बहिष्करण भी।

श्रमिक स्त्री का श्याम तन, बँधा हुआ यौवन, हथौड़ा उठाता हाथ और पसीने से भीगा माथा श्रम की कठिनता को प्रकट करते हैं। भिक्षुक का मिला हुआ पेट-पीठ, सूखे होंठ, लकड़ी के सहारे चलता शरीर और पेट मलते बच्चे भुखमरी को। निराला देह को सौंदर्य की वस्तु या आध्यात्मिक प्रतीक भर नहीं रहने देते। देह पर समाज के वर्गीय संबंध अंकित हैं। किस शरीर को छाया मिलती है, किसे धूप; किसे भोजन मिलता है, किसे जूठन—इन्हीं प्रश्नों में सामाजिक संरचना दिखाई देती है।

'तोड़ती पत्थर' का प्रमुख सामाजिक अंतर्विरोध श्रम और पूँजी अथवा श्रम और वैभव के बीच है। अट्टालिका के सामने पत्थर तोड़ती स्त्री अपने श्रम के परिणामों से वंचित उत्पादक वर्ग का प्रतीक बनती है। 'भिक्षुक' में अंतर्विरोध अन्न की सामाजिक उपलब्धता और व्यक्ति की भूख के बीच है। जूठी पत्तलें बताती हैं कि भोजन मौजूद है, किंतु भूखे मनुष्य तक सम्मानपूर्वक नहीं पहुँचता। इसलिए दोनों कविताएँ अभाव को संसाधनों की प्राकृतिक कमी से नहीं जोड़तीं। अभाव उस व्यवस्था में उत्पन्न है जिसमें संपत्ति, सुविधा और अवसर कुछ वर्गों के पास केंद्रित हैं।

निराला की 'कुकुरमुत्ता' इस वर्गीय दृष्टि को व्यंग्यात्मक रूप में अधिक स्पष्ट करती है। गुलाब अपने सौंदर्य और प्रतिष्ठा पर गर्व करता है, जबकि कुकुरमुत्ता उसे उसके पोषण के सामाजिक आधार की याद दिलाता है—

"अबे, सुन बे, गुलाब,
भूल मत जो पाई खुशबू, रंग-ओ-आब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतराता है कैपिटलिस्ट।"[12]

कुकुरमुत्ता की भाषा 'तोड़ती पत्थर' और 'भिक्षुक' की करुण भाषा से भिन्न है। वहाँ सीधा व्यंग्य और वर्गीय आक्रमण है। गुलाब का सौंदर्य उस खाद पर निर्भर है जिसका "खून" उसने चूसा है। "कैपिटलिस्ट" शब्द के माध्यम से निराला शोषणकारी संपन्नता को स्पष्ट नाम देते हैं। 'तोड़ती पत्थर' की अट्टालिका इसी गुलाब-सदृश वैभव की स्थापत्य अभिव्यक्ति है, जबकि श्रमिक स्त्री वह आधार है जिसके श्रम पर वैभव खड़ा है। इसी प्रकार 'राजे ने अपनी रखवाली की' में सत्ता, धर्म और सांस्कृतिक प्रचार के गठबंधन पर व्यंग्य मिलता है—

"धर्म का बढ़ावा रहा धोखे से भरा हुआ,
लोहा बजा धर्म पर, सभ्यता के नाम पर,
खून की नदी बही;
आँख-कान मूँदकर जनता ने डुबकियाँ लीं,
आँख खुली—राजे ने अपनी रखवाली की।"[13]

इन पंक्तियों में शासन केवल प्रत्यक्ष बल से नहीं, विचार, धर्म और सांस्कृतिक सम्मोहन से अपनी रक्षा करता है। 'भिक्षुक' के "दाता-भाग्य-विधाता" और इस कविता के धार्मिक धोखे के बीच स्पष्ट वैचारिक संबंध है। दोनों स्थानों पर धर्म का वह रूप प्रश्नांकित होता है जो अन्याय को बदलने के बजाय उसे भाग्य, पुण्य अथवा व्यवस्था की स्वाभाविकता से ढक देता है। 'जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ' में निराला शोषित समुदायों की सामूहिक शिक्षा और संगठन की आकांक्षा व्यक्त करते हैं—

"आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला,
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अँधेरे का ताला।"[14]

यह कविता 'तोड़ती पत्थर' और 'भिक्षुक' में अनुपस्थित सामूहिक भविष्य-दृष्टि को सामने लाती है। वहाँ पीड़ित पात्र अकेले दिखाई देते हैं; यहाँ विभिन्न श्रमजीवी और वंचित समुदाय संगठित होकर "अँधेरे का ताला" खोलने वाले हैं। अमीरों की हवेली का पाठशाला बनना संपत्ति और ज्ञान दोनों के लोकतंत्रीकरण का स्वप्न है। इससे स्पष्ट होता है कि निराला की सामाजिक चेतना केवल दया या व्यक्तिगत सहानुभूति तक सीमित नहीं थी। उसमें सामाजिक परिवर्तन, शिक्षा और जनसंगठन की कल्पना भी मौजूद है।

'सरोज-स्मृति' मूलतः पुत्री की मृत्यु पर लिखी गई शोक-कविता है, पर उसमें निजी दुःख आर्थिक और सामाजिक यथार्थ से जुड़ जाता है। कवि स्वयं को ऐसे पिता के रूप में देखता है जो आर्थिक अभाव के कारण पुत्री के लिए पर्याप्त साधन जुटा न सका—

"धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका!
जाना तो अर्थागमोपाय,
पर रहा सदा संकुचित-काय।"[15]

यहाँ अभाव किसी अपरिचित पात्र का बाहरी दृश्य नहीं, कवि के अपने जीवन का अनुभव है। आर्थिक संघर्ष के कारण उत्पन्न अपराधबोध निराला की करुणा को आत्मानुभूत आधार देता है। 'भिक्षुक' को देखकर उनका कलेजा इसलिए भी दो टूक होता है कि अभाव उनके लिए केवल साहित्यिक विषय नहीं था। फिर भी निजी निर्धनता और सामाजिक निर्धनता को एक समझ लेना उचित नहीं होगा। निराला का महत्त्व इस बात में है कि वे व्यक्तिगत पीड़ा को व्यापक मानवीय संवेदना में रूपांतरित करते हैं।

दोनों केंद्रीय कविताओं में स्त्री और बच्चों की उपस्थिति सामाजिक विषमता की बहुस्तरीयता उजागर करती है। वर्गीय अभाव सभी निर्धनों को प्रभावित करता है, किंतु स्त्री पर उसका बोझ श्रम, लैंगिक असुरक्षा और सामाजिक अदृश्यता के संयुक्त रूप में पड़ता है। बच्चे गरीबी की विरासत ग्रहण करते हैं। 'तोड़ती पत्थर' की स्त्री का "भर बँधा यौवन" श्रम में खप रहा है; 'भिक्षुक' के बच्चों का बचपन भूख और याचना में। इस प्रकार विषमता केवल वर्तमान आय का अंतर नहीं, मनुष्य की जीवन-संभावनाओं का असमान वितरण है।

कविताओं का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि उनमें निर्धन पात्रों को नैतिक रूप से निम्न नहीं दिखाया गया। परंपरागत सामाजिक दृष्टि भिक्षुक को अकर्मण्य और मजदूर स्त्री को निम्न समझ सकती थी। निराला इस मूल्य-क्रम को उलटते हैं। पत्थर तोड़ती स्त्री में श्रम, संयम और स्वाभिमान है; नैतिक प्रश्न उस अट्टालिका और व्यवस्था की ओर जाता है जो उसे छाया तक नहीं देती। भिक्षुक और उसके बच्चे अपमानित स्थिति में हैं, पर अपमान उनका स्वभाव नहीं, समाज द्वारा उन पर आरोपित दशा है। दोष भूखे मनुष्य में नहीं, उस सभ्यता में है जो उसे जूठन तक के लिए संघर्ष कराती है।

निष्कर्ष

'तोड़ती पत्थर' और 'भिक्षुक' में निराला ने सामाजिक विषमता के दो परस्पर संबद्ध रूपों को अभिव्यक्त किया है। 'तोड़ती पत्थर' श्रम करने के बावजूद मानवीय सुविधा, सुरक्षा और सम्मान से वंचित स्त्री की कविता है। उसके सामने खड़ी अट्टालिका श्रम और संपत्ति के असमान संबंध को मूर्त करती है। श्रमिक स्त्री की न रोने वाली दृष्टि और बार-बार उठता हथौड़ा उसे केवल करुणा की पात्र नहीं रहने देते; उनमें मौन स्वाभिमान और प्रतिरोध की संभावना निहित है। इसके विपरीत 'भिक्षुक' उस मनुष्य और परिवार को सामने लाती है जो जीविका के साधनों से बाहर धकेल दिया गया है। फटी झोली, सूखे होंठ, पेट मलते बच्चे और जूठी पत्तलों के लिए कुत्तों से संघर्ष का दृश्य भूख को व्यक्तिगत दुर्भाग्य नहीं, सभ्यता की नैतिक विफलता सिद्ध करता है।

दोनों कविताओं का संयुक्त अध्ययन स्पष्ट करता है कि निराला अभाव को प्राकृतिक अथवा भाग्यनिर्धारित घटना नहीं मानते। विषमता उनके यहाँ वैभव और श्रम, अन्न और भूख, सुविधा और असुरक्षा तथा दान और अधिकार के बीच विद्यमान असंतुलन से पैदा होती है। 'विधवा', 'दान', 'कुकुरमुत्ता', 'राजे ने अपनी रखवाली की', 'जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ' और 'सरोज-स्मृति' जैसी रचनाओं से इन कविताओं को जोड़ने पर निराला की सामाजिक चेतना का व्यापक स्वरूप उभरता है। उसमें पीड़ा के प्रति करुणा, धार्मिक-सामाजिक पाखंड पर व्यंग्य, शोषक वर्ग के प्रति असहमति और वंचित समुदायों की मुक्ति की आकांक्षा साथ-साथ उपस्थित हैं।

निराला की दृष्टि आधुनिक अर्थों में पूर्ण समाजशास्त्रीय अथवा दलित-स्त्रीवादी विश्लेषण प्रस्तुत नहीं करती। उनके पात्रों की संस्थागत परिस्थितियाँ और आत्मकथात्मक वाणी सीमित हैं। फिर भी उन्होंने हिंदी कविता के विषय, पात्र और सौंदर्यबोध का लोकतंत्रीकरण किया। उन्होंने यह स्थापित किया कि श्रम से झुलसा शरीर, फटी झोली, भूखा बच्चा और मौन स्त्री भी कविता के केंद्रीय और गरिमामय विषय हो सकते हैं। इस दृष्टि से 'तोड़ती पत्थर' और 'भिक्षुक' केवल अपने युग की गरीबी का विवरण नहीं, ऐसी सामाजिक संरचना की आलोचना हैं जो मनुष्य की गरिमा को संपत्ति और वर्ग के आधार पर विभाजित करती है। उनकी स्थायी प्रासंगिकता इसी मानवीय और प्रश्नाकुल दृष्टि में निहित है।

संदर्भ सूची

1. त्रिपाठी 'निराला', सूर्यकांत, "विधवा", नंदकिशोर नवल (संपा.), निराला रचनावली, भाग–1, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1983,
2. त्रिपाठी 'निराला', सूर्यकांत, "तोड़ती पत्थर", रमेशचंद्र शाह (संपा.), निराला संचयिता, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2010, पृ. 107
3. वही, पृ. 107
4. वही, पृ. 107
5. वही, पृ. 107
6. वही, पृ. 107
7. त्रिपाठी 'निराला', सूर्यकांत, "भिक्षुक", नंदकिशोर नवल (संपा.), निराला रचनावली, भाग–1, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1983, पृ. 65
8. वही, पृ. 65
9. वही, पृ. 65
10. वही, पृ. 65
11. वही, पृ. 65
12. त्रिपाठी 'निराला', सूर्यकांत, "कुकुरमुत्ता", रमेशचंद्र शाह (संपा.), निराला संचयिता, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2010, पृ. 128
13. त्रिपाठी 'निराला', सूर्यकांत, "राजे ने अपनी रखवाली की", रमेशचंद्र शाह (संपा.), निराला संचयिता, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2010, पृ. 147
14. त्रिपाठी 'निराला', सूर्यकांत, "जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ", नंदकिशोर नवल (संपा.), निराला रचनावली, भाग–2, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1983,
15. त्रिपाठी 'निराला', सूर्यकांत, "सरोज-स्मृति", रमेशचंद्र शाह (संपा.), निराला संचयिता, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2010, पृ. 88।
16. शर्मा, रामविलास, निराला की साहित्य साधना, खंड–2, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, संशोधित संस्करण।
17. नवल, नंदकिशोर, निराला: कृति से साक्षात्कार, नई दिल्ली, साहित्य अकादेमी, संस्करण 2009।
18. नामवर सिंह, छायावाद, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पुनर्मुद्रित संस्करण।
19. बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 2009,